1

शब्दब्रह्म के अनन्य के साधक : पण्डित चारुदेव शास्त्री

डॉ. सत्यव्रत
7/35, पुरानी आबादी
नामदेव फ्लोर मिल के पास, श्रीगंगानगर (राज०)

मई 1950 की बात है। मेरे पिता श्री विद्यानन्द शास्त्री अम्बाला से संस्कृत-व्याकरण की एक पुस्तक 'व्याकरण-चन्द्रिका' लाए थे। उस पुस्तक के विषय में मेरे पूछने पर उन्होंने उसके लेखक पं० चारुदेव शास्त्री के पाण्डित्य का जिस तन्मयता तथा भावुकता से गुणगान किया था, वह मेरे बाल-मन की गहराई में उतर कर संस्कार के रूप में प्रतिष्ठित हो गया था। तब मैं नवम कक्षा का छात्र था। मैं उस समय यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि मुझे एक दिन उस महापण्डित के चरणों में बैठ कर कुछ विद्या-कण ग्रहण करने का सौभाग्य मिलेगा। यह मेरे पूर्वजन्मों के सुकृतों का फल था कि मैं उनका प्रिय शिष्य तथा उनकी असीम कृपा का पात्र रहा हूँ। जीवन की सन्ध्या में ~~स्थित~~ आज अतीत का विहंगावलोकन करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि मेरे व्यक्तित्व में जो भी सात्त्विक अंश तथा ज्ञान के प्रति समर्पण का भाव है, वह सब गुरु-वर की अनुकम्पा का मधुर फल है।

मेरे विचार में पण्डित चारुदेव जी के व्यक्तित्व की समग्रता को शब्दों में निरूपित करना सम्भव नहीं है क्योंकि वह उस ब्रह्म के समान ही विराट् और शब्दातीत है, जिसकी उन्होंने शब्द के रूप में आजीवन आराधना की थी। उनके व्यक्तित्व के इतने पवित्र पक्ष और सूक्ष्म भंगिमाएँ हैं कि उन्हें साकार करने में भाषा एक अपर्याप्त तथा असमर्थ माध्यम प्रतीत होता है। वह किसी महाकवि की वाणी का ही विषय हो सकता है, किन्तु मुझे विश्वास है कि असली चारुदेव उसकी भी पकड़ में नहीं आएगा।

पण्डित चारुदेव की जीवन-गाथा ~~प्रा~~ भारतीय मनीषा की अजेय यात्रा की अनुपम गाथा है। एक साधारण-से शिक्षाविहीन तथा साधनहीन परिवार में जन्म लेकर आचार्यवर ने ज्ञान एवं पाण्डित्य के जिस उत्तुंग शिखर पर आरूढ होकर एकच्छत्र शब्दानुशासन का शासन स्थापित किया था, वह ऋषियों की तपोभूमि थी। पण्डित जी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् और संस्कृत व्याकरण के अप्रतिम मर्मज्ञ थे, यह कथन तो तथ्य की पुनरुक्ति मात्र है। वास्तविकता यह है कि शब्दब्रह्म की अनवरत साधना तथा समर्पित आराधना से उनकी शास्त्रीय प्रज्ञा

1

उस भ्राजिष्णु लोक में प्रतिष्ठित हो गयी थी, जहाँ पाणिनि, पतञ्जलि, शौनक, कणाद आदि तपस्वी विचरण करते हैं।

पण्डित चारुदेव जी ने वैदिक, लौकिक, वैज्ञानिक, अर्वाचीन संस्कृत के विराट् साहित्य का तलस्पर्शी पारायण किया था, उसमें उनकी अबाध गति थी, वे काव्यरसिक सहृदय थे, उनकी स्मरणशक्ति इतनी अद्भुत थी कि उसमें विशाल साहित्य-सम्पदा सदैव उपस्थित रहती थी, साहित्य तथा शास्त्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्य उन्हें हस्तामलकवत् स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष थे, ~~साहित्य की कोई भंगिमा~~ प्राचीन कवियों और शास्त्रकारों की भाषा की कोई भंगिमा उनसे छिपी ~~भी~~ नहीं थी, परन्तु आचार्यवर मूलतः संस्कृत-व्याकरण के पण्डित थे। पाणिनीय शास्त्र तथा उसके सम्प्रदाय के एकनिष्ठ अवगाहन, उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यों के उद्घाटन, यथार्थ विश्लेषण, निर्दोष व्याख्यान तथा उसका वाग्व्यवहार से संयोजन करने के फलस्वरूप उन्हें शब्द-शास्त्र तथा संस्कृत-भाषा के मर्म और प्रकृति को हृदयङ्गम करने की ऐसी अनूठी नैपुणी प्राप्त थी जो पतञ्जलि, कात्यायन आदि प्राचीन आचार्यों में भी दुर्लभ है। पाणिनीय व्याकरण के ~~अ~~ अपूर्व व्याख्यान और अनुशासन के कारण आचार्यश्री को ~~पाणिनि~~ 'अभिनव पाणिनि' की गौरवशाली उपाधि से विभूषित किया ~~गया~~ जाता था। वस्तुतः उनमें पाणिनि ही नहीं, पतंजलि और कात्यायन की प्रज्ञा भी साकार थी। वे संस्कृतव्याकरण के 'मुनित्रय' के आधुनिक अवतार थे।

पाणिनीय शास्त्र की प्राचीन परम्परा से प्रतिबद्ध और उसमें दीक्षित होते हुए भी शास्त्री जी उसकी सीमाओं से अनभिज्ञ अथवा उदासीन नहीं थे। यह विडम्बना ही है कि विश्व की प्राचीनतम तथा अत्यन्त समृद्ध संस्कृत भाषा का यह लगभग सर्वांगीण एवं सम्पूर्ण व्याकरण, प्रारम्भ से ही, प्रयोगात्मक व्यवहार से असम्पृक्त-सा रहा है। अन्य भाषाओं के व्याकरणों की भाँति संस्कृत-व्याकरण का ~~भी~~ लक्ष्य भी, 'शब्द की साधुता' का निर्णय करना रहा है, परन्तु जहाँ अन्य भाषाओं में 'शब्द' को वाग्व्यवहार और भाषा-प्रयोग से जोड़कर व्याकरण को भाषा के पथप्रदर्शक के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, वहाँ संस्कृत-व्याकरण में 'पदसिद्धि' ही उसका सर्वस्व मान लिया गया है। उसमें न पद के अर्थ की चिन्ता की जाती है, न उसे वाक्य में प्रयुक्त कर व्यवहार की दिशा निर्धारित की जाती है। संस्कृत-व्याकरण में पदार्थ के स्पष्टीकरण अथवा उसे उदाहृत करने के लिये जो वाक्य उदाहरण के रूप में दिये भी गये हैं, वे इतने नीरस और निष्प्राण हैं कि वे उनके

प्रयोगात्मक व्यवहार को सुनिश्चित करने में असमर्थ है। वाग्व्यवहार से विच्छिन्न 'पद' के प्रति इस अतिशय आग्रह के कारण कुछ शब्दों के अर्थ प्राचीन आचार्यों को भी ज्ञात नहीं थे, यह न्यास, पदमञ्जरी आदि से स्पष्ट है। पण्डित चारुदेव जी के व्याकरण-दर्शन में यह अंश॥ व्याकरण की अनुशासन-पद्धति निर्दोष तथा परिपूर्ण नहीं है। इसकी निष्फलता स्वतःसिद्ध है। इस रीति से किया गया व्याकरण का अध्ययन तथा अध्यापन बौद्धिक व्यायाम के अतिरिक्त कुछ नहीं है। आचार्यश्री के विचार में शब्द का शास्त्रानुसार शुद्ध होना यद्यपि नितान्त आवश्यक है परन्तु यदि वह व्यवहार के अनुकूल अथवा शिष्ट-सम्मत न हो, उसे ग्रहण करना उचित नहीं है। महाभाष्यकार ने भी इसी आधार पर अनेक शब्दों को प्रयोग से बहिष्कृत कर दिया है। आचार्य जी की निर्भ्रान्त मान्यता है कि पदसिद्धि स्वयं में व्याकरण का साध्य नहीं है। उसे वाक्य द्वारा उदाहृत कर उसके अर्थ को उजागर करते हुए उसके प्रयोग की शिक्षा देने में ही व्याकरण की सार्थकता निहित है। उन्होंने अपने वाङ्मय के सिरमौर 'व्याकरणचन्द्रोदय' के प्रणयन में इस पद्धति का साग्रह अनुसरण किया है, जिससे उनका व्याकरण-दर्शन वायवीय न रह कर इस महान् ग्रन्थ में मूर्त हो गया है। २३३२ मुद्रित पृष्ठों के व्याकरणचन्द्रोदय के पांचों खण्डों में शास्त्री जी ने व्याकरणशास्त्र के नियमों को वैदिक तथा लौकिक साहित्य के हजारों उद्धरणों से विशद रूप में उदाहृत करने का घनघोर उद्योग किया है। उदाहरणों के इस सरस संचय से न केवल व्याकरण की कर्कशता में मृदुता का समावेश हुआ है अपितु वाग्व्यवहार की पद्धति को दिशा और समर्थन भी मिला है। इन मधुर व्यावहारिक उदाहरणों से व्याकरणचन्द्रोदय काव्यत्व का आभास देता है। वस्तुतः इस ग्रन्थ में, अपने आदर्श के अनुरूप पण्डित जी ने वाक्य को पद के समान (बल्कि उससे अधिक) महत्त्व दिया है और वे सदैव व्याकरण के वास्तविक उद्देश्य के प्रति सजग रहे हैं, जो, उनके शब्दों में, भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में सहायता करना है। एक प्रकार से आचार्यवर ने संस्कृत-व्याकरण को संस्कृत भाषा के भाषात्मक व्यवहार की जीवन्त परम्परा से जोड़कर नया कीर्तिमान् स्थापित किया है। यह संस्कृत-व्याकरण की अध्ययन-परम्परा को उनकी स्वर्णिम देन है।

प्राचीन व्याकरण-परम्परा और उसके प्रमाणभूत आचार्यों के प्रति शास्त्री जी की अविचल श्रद्धा है। उसकी अन्वाख्यान पद्धति का अतिक्रमण उन्हें सह्य नहीं है। उनके अनुसार भाषा के साथ मनमानी करने के लिये व्याकरण का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसकी व्याकरण अनुमति भी

नहीं देता है। जिन प्राचीन अथवा अर्वाचीन लेखकों ने शब्द-रचना, उनके शास्त्र-विरुद्ध अर्थों में प्रयोग अथवा व्याकरण की अशास्त्रीय व्याख्या करने की दुश्चेष्टा की है, शास्त्री जी ने 'साहसप्रिया' कहकर उनकी संयत भर्त्सना की है। 'रावणवध' का लेखक वैयाकरण-कवि भट्टि, इस दृष्टि से, शास्त्री जी के कोप का भाजन बना है। भट्टि किस प्रकार व्याकरण की मान्य पद्धति से विचलित हुआ है, किस प्रकार उसने कुछ सूत्रों की अप्रमान्य व्याख्या की है, शब्दों का मनमाने अर्थों में प्रयोग किया है, उपसर्गों के साथ खिलवाड़ किया है, प्रतिष्ठित वाग्व्यवहार का उल्लंघन किया है; इसका विशद विवेचन शास्त्री जी ने किया है। कहना न होगा, आचार्यवर जैसा भाषा और व्याकरण का मर्मज्ञ पण्डित ही भट्टि को ललकार उसे 'सम्प्रदाय-विरोधी' कहने का साहस कर सकता है। शास्त्री जी का लक्ष्य संस्कृत भाषा के प्रामाणिक तथा शिष्ट-सम्मत वाग्व्यवहार की प्रतिष्ठा करना था। उनका 'शब्दापशब्दविवेक:' इसी महान् उद्देश्य से अनुप्राणित है। इसमें अपशब्द को नकार कर जिस मौलिक शैली में 'शब्द' और शब्दव्यवहार की शुद्धता को उजागर किया गया है, उसे देख-पढ़ कर पाठक आश्चर्य-चकित हो जाता है। व्याकरण के प्राचीन प्रमाणभूत वामन-जयादित्य आदि आचार्य, माघ, भट्टि, बाण आदि पण्डित कवि भी कैसे कहीं-कहीं व्यवहार से भटक गये हैं, यह प्रथम बार शास्त्री जी की इस कृति से पता चलता है।

संस्कृत भाषा के गौरव तथा वाग्व्यवहार के आदर्श को स्थापित करने के लिये शास्त्री जी सदैव तत्पर रहते थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने वृद्धावस्था में व्याकरणचन्द्रोदय जैसे भीमकाय ग्रन्थ की रचना की थी। इसी आतुरता ने उन्हें 'उपसर्गार्थचन्द्रिका' जैसी ११४६ मुद्रित पृष्ठों की महान् तथा अनूठी रचना लिखने को प्रेरित किया है। सामान्य व्यक्ति यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि संस्कृत के उपसर्गों पर पांच खण्डों के ऐसे विशाल ग्रन्थ की रचना की जा सकती है। उपसर्गार्थचन्द्रिका शास्त्री जी के साहित्याब्धि का नवनीत है। इसमें विभिन्न उपसर्गों के साथ वैदिक तथा लौकिक साहित्य में जिन धातुओं का प्रयोग हुआ है, उन्हें न केवल उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया गया है बल्कि उपसर्गों के प्रयोग से, उन धातुओं के जो अर्थ उदित और विकसित हुए हैं, उसका भी अतीव मार्मिक विवेचन किया गया है। उपसर्गों के अर्थ का निर्धारण करने में यद्यपि शास्त्री जी ने प्राचीन टीकाओं का उपयोग किया है किन्तु उनकी भ्रामक तथा दोषपूर्ण व्याख्याओं को अस्वीकार कर उनमें यथोचित युक्तिपूर्ण संशोधन किया है। उपसर्गों से सम्बन्धित अनेक विषयों पर भी ग्रन्थ में गम्भीर विचार-

विमर्श किया गया है। इस पर्यालोचन से स्पष्ट है कि उपसर्ग द्योतक भी हैं, और वाचक भी हैं। उनके प्रयोग में नियम है। धातु के साथ उपसर्ग का स्वच्छन्दता से प्रयोग नहीं किया जा सकता। लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक साहित्य में उपसर्गों का अधिक प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। 'भागवतभाषापरिच्छेदः', वाक्यमुक्तावली आदि ग्रन्थ भी वाग्व्यवहार की प्रतिष्ठा करने के लिये ही रचे गये हैं।

शास्त्रीजी सही अर्थ में शास्त्रज्ञ थे। उनकी प्रतिभा भी शास्त्रोन्मुखी थी। इस प्रखर प्रतिभा से उन्होंने जीवनपर्यन्त शब्दशास्त्र का मन्थन किया है। कर्कश शास्त्र के आराधक होते हुए भी वे काव्य की सरसता से विमुख नहीं थे। उन्होंने किसी काव्य की तो रचना नहीं की है, किन्तु उनके गान्धिचरितम् और प्रस्तावतरङ्गिणी उनके गद्य-लेखन के कौशल के परिचायक हैं। गान्धिचरित में महात्मा गान्धी का कारडी ग्राम में उनके बन्दी बनाने तक का जीवन चरित, आधुनिक शैली में, निबद्ध है। प्रस्तावतरंगिणी विभिन्न विषयों पर लिखित निबन्धों का संकलन है। गद्यलेखन में भी शास्त्री जी का वैयाकरण मुखर रहा है।

गुरुवर का वैदुष्य-पक्ष जितना पूज्य है, उनके जीवन के अन्य पक्ष उससे कम पूजनीय नहीं हैं। वे अल्पतोषी व्यक्ति थे। उनका हृदय करुणा तथा परोपकार के पवित्र भावों से परिपूर्ण था। सारस्वत साधक होने के नाते उन्होंने जीवन में कभी भौतिक सुविधाओं की कामना नहीं की। उन्होंने सच्चे ऋषि योगी की भाँति जीवन-यापन किया। इस दृष्टि से उनकी तुलना वाचस्पति मिश्र से की जा सकती है। उनके पास कोई भौतिक सुविधा-जनक उपकरण नहीं था। सरल हृदय, सादा जीवन, उदात्त चिन्तन, परहित-कामना, अनुपम वैदुष्य — यही उनके जीवन की पूँजी थी। वे लोकविद् नहीं थे, यह कहना तो उचित नहीं होगा किन्तु उनमें एक ऐसा वैराग्यभाव था, जो उन्हें ऋषियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित करता था। वे सचमुच आधुनिक ऋषि थे, जिसने लोकयात्रा करते हुए भी शब्दब्रह्म की सिद्धि प्राप्त कर ली थी। वे आदर्श गुरु थे। प्राचीन आचार्य की भाँति शिष्य को अनुशासित और ज्ञान-सम्पन्न करने में उनके अध्यापन जीवन की सार्थकता थी।

यह महामनीषी १९८६ में ब्रह्मलीन हो गया है, लोग ऐसा कहते हैं। मुझे लगता है, वे जीवित हैं। ऐसे महापुरुष किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये अवतरित होते हैं और उस उद्देश्य की प्राप्ति होने पर अपनी लीला का संवरण कर लेते हैं। महापुरुषों के जीवन में केवल एक तिथि होती है, उनकी जन्मतिथि। उनकी मृत्यु-तिथि नहीं होती क्योंकि वे मरते नहीं हैं। 'तस्मै श्रीगुरवे नमः'।